Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2019 GISRRJ | Volume 2 | Issue 3 | ISSN : 2582-0095

माण्डूक्योपनिषद् में ओंकार तत्त्व

सुभाष सिंह
शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज,उत्तर प्रदेश।

Article Info
Volume 2 Issue 3
Page Number : 155-161
Publication Issue :
May-June-2019
Article History
Accepted : 20 June 2019
Published : 30 June 2019

सारांश– भारतीय विचारधारा के विकासक्रम में उपनिषद् दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय दर्शन की लगभग सभी चिंतन पद्धतियों का मूल उपनिषद् में पाया जाता है। वेद के चार भागों संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् में परिगणित होने से उपनिषद् को भी वेद के नाम से जाना जाता है।

प्रमुख शब्द–ओंकार, ब्रह्म, आगम, वैतथ्य, अद्वैत, अलातशान्तिप्रकरण, जीव, माया।

माण्डूक्योपनिषद्, जो प्राचीन उपनिषदों में अन्तिम है, परवर्ती वेदान्त दर्शन के मूल सिद्धान्तों की स्थापना करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह उपनिषद् चार प्रकरणों में विभाजित है, आगमप्रकरण, वैतथ्यप्रकरण, अद्वैतप्रकरण और अलातशांतिप्रकरण। आगम प्रकरण के अन्तर्गत ओंकार तत्त्व का विधिवत् विवरण प्राप्त होता है। माण्डूक्योपनिषद् ओंकार तत्त्व को तीन मात्राओं में विभाजित करता है। जिसमें अ, उ और म् ये तीन मात्रायें हैं। मात्रा शब्द माप के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ अ, उ और म् मात्रायें जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के बोधक हैं। इन तीनों अवस्थाओं के अतिरिक्त एक चौथी अवस्था तुरीय अवस्था की भी कल्पना की गयी है, जो कि ओंकार की मात्राहीन अवस्था है। मानसिक स्थिति की इन विविध अवस्थाओं के अनुरूप ही ओंकार की मात्राओं को व्यवस्थित किया है, साथ ही उसी के अनुरूप आत्मन् के विविध प्रकार माने गये हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्था माण्डूक्योपनिषद् की मौलिक कल्पना मानी जाती है। माण्डूक्य का मत है कि इन चार मानसिक अवस्थाओं के अनुरूप ही परमात्मा के चार पक्ष हैं जिसमें अन्तिम तुरीय अवस्था ही सत्य है, जो कि ईश्वर की सगुण अवस्था से भी परे की अवस्था है। शंकराचार्य ने इस तुरीय अवस्था को अमृत, अजन्मा मानते हुए परम सत्य स्वीकार किया है, **'माया संख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि।**

माण्डूक्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र में ऊँ शब्द को अक्षर तत्त्व कहा गया है। अक्षर वह है जिसका कभी क्षय नहीं होता है। इसके अतिरिक्त समस्त पदार्थों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इसलिये संसार शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है, 'संसरति इति संसारः' अर्थात् जिसमें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है वह संसार है। यह संसार दो रूपों में दिखायी देती है एक जड़, दूसरा चेतन। सांख्य दर्शन में चेतन तत्त्व को पुरुष तथा जड़ या अचेतन तत्त्व को प्रकृति कहा गया है। अचेतन जगत् में निरन्तर परिवर्तन अर्थात् उसके

Copyright : © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

वर्तमान रूप का क्षय होता रहता है। दूसरा तत्त्व चेतन तत्त्व है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। वह सदैव एक सा रहता है, 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।

माण्डूक्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र में ओंकार की सर्वात्मकता प्रतिपादित की गयी है। जिसमें ओंकार को ही सब कुछ बताया गया है। जो अभिधेय रूप समस्त पदार्थ समूह है वह अपने अभिधान से अभिन्न होने के कारण तथा सम्पूर्ण अभिधान भी ओंकार से अभिन्न होने के कारण यह सब ओंकार ही है। परब्रह्मन् भी अभिधान–अभिधेय रूप उपाय के द्वारा ही जाना जाता है। इसलिये वह भी ओंकार ही है।

माण्डूक्योपनिषद् में आत्मन् को चार पादों वाला बताया गया है, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। इसमें जागरित स्थान को बहिष्प्रज्ञ, सात अंग वाला, 19 मुखों वाला तथा स्थूल पदार्थों का भो करने वाला कहा है। बहिष्प्रज्ञ का अर्थ है अपने अतिरिक्त बाह्य पदार्थों का ज्ञान रखने वाला अर्थात् अविद्या से प्रभावित बुद्धि बाह्य विषय से सम्बन्ध रखने वाली होती है। इसे ही जागरित स्थान कहा गया है। जागरित अवस्था जिसका स्थान है चेतना की वह अवस्था जागरित स्थान कहा जाता है। यह वैश्वानर सात अंगों वाला है शंकराचार्य के अनुसार द्युलोक वैश्वानर आत्मा का सिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, आका'k मध्यस्थान देह है, अन्न का कारण रूप जल ही मूत्र स्थान है और पृथ्वी ही चरण है। जैसा वि छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है, **'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ।'** इन सात अंगों के कारण वैश्वानर को सप्तांग कहा गया है। जागरित अवस्था में आत्मन् इन्द्रियों के माध्यम से विषयों का भोग करती है। आत्मा की यह अवस्था अधोऽवस्था होती है। इस अवस्था में आत्मन् को अपने स्वरूप का भान नहीं रहता है। आत्मन् पर बाह्य विषयों का प्रभाव अधिक होता है। इसीलिये जागरित स्थान आत्मन् को बहिष्प्रज्ञ कहा जाता है।

इस वैश्वानर को 19 मुखों वाला कहा गया है जिसमें कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय को मिलाकर दश, पंच प्राण तथा मनस्, बुद्धि, चित्त, अहंकार को मिलाकर 19 हुए। उपलब्धि का द्वार होने के कारण इन्हें मुख कहा गया है। इन 19 मुखों के द्वारा बहिष्प्रज्ञ वैश्वानर बाह्य स्थूल विषयों का उपभोग करता है। इसीलिये इसे स्थूलभुक् कहा जाता है। विषयों का भोग करने से विषयों की आशक्ति आत्मन् में बनी रहती है। इस आशक्ति के कारण ही आत्मन् नाना देहों को धारण करती है। आत्मन् की यह जागरित स्थान अवस्था ही अनेक प्रकार के जन्मों का कारण बनती है। इसीलिये इसे वैश्वानर कहा जाता है। शंकराचार्य ने वैश्वानर की व्युत्पत्ति दी है, **'विश्वेषां नराणामनेकधा नयनाद्वैश्वानरः'** अर्थात् सम्पूर्ण नरों को अनेक प्रकार की योनियों में वहन करने के कारण वैश्वानर कहलाता है। अन्य देहों का ज्ञान होने से पहले इस देह का ज्ञान होना आवश्यक है, **'प्रणवशब्द एव पन्था'**

इस ओंकार का द्वितीय पाद स्वप्न स्थान वाला कहा गया है। क्योंकि इस स्थिति में आत्मन् स्वप्न जगत् के विषयों का अनुभव करता है। जाग्रत् अवस्था में बुद्धि बाह्य विषयों का ज्ञान प्राप्त कर मनस् पर

उस ज्ञान का संस्कार छोड़ देती है। पुनः स्वप्नकाल में मनस् में उन वासनाओं का स्फुरण होता है। यह ज्ञान स्थूल विषयों का नहीं होता है, अपितु यह ज्ञान स्वप्न जगत् का तथा प्रकाश स्वरूप होता है। मनस् से प्रकाश रूप में वासनाओं के स्फुरण का कारण अविद्या, कामना और सकाम कर्म है। इन्हीं तीनों के कारण मनस् स्वप्नावस्था को प्राप्त होता है। यही कारण है कि अविद्या, कामना के नष्ट हो जाने पर पुरुष स्वप्न से अतीत हो जाता है। इन्द्रियों की अपेक्षा मनस् के आन्तरिक होने के कारण इसे अन्तःकरण के अन्तर्गत रखा गया है। मनस् का सम्बन्ध पंचज्ञानेन्द्रियों से होने के कारण कठोपनिषद् में मनस् को इन्द्रिय रूपी घोड़ों का लगाम कहा गया है। क्योंकि मनस् पंच ज्ञानेन्द्रियों से जुड़ी होती है। यह आत्मन् मनस् के साथ एकीभाव को प्राप्त होकर स्वप्न जगत् के विषयों का भोग करता है, अतः अन्तःप्रज्ञ कहलाता है। ओंकार का तीसरा पाद सुषुप्त पाद कहा जाता है। सुषुप्ति पुरुष की वह अवस्था होती है, जिसमें किसी प्रकार का न स्वप्न होता है न ही कोई कामना ही होती है। सुषुप्ति स्थान में आत्मन् की जो चेतना होती है। वह सुषुप्त स्थान कहलाता है। इस अवस्था में स्वप्नगत ज्ञान और जागरत का ज्ञान सबका तमोगुण के कारण एकीभाव हो जाता है, जैसे अन्धकार में वस्तुओं का एकीभाव प्राप्त हो जाता है। इसी कारण इस चेतना को एकीभूत कहा जाता है। जाग्रत और स्वप्न जगत् का ज्ञान घनीभूत हो जाने से इसे प्रज्ञानघन कहा जाता है। सुषुप्तावस्था के आनन्द बहुल होने के कारण यह आनन्दमय कहा जाता है। फिर भी आनन्द की आत्यन्तिकता न होने से यह स्थिति केवल आनन्द की स्थिति नहीं है।

यह चेतना आनन्द का भोक्ता होने के कारण आनन्दभुक् कहा जाता है। सुषुप्तावस्था में भी भोक्ता और भोग की स्थिति बनी रहती है। दोनों में एकीभाव प्राप्त नहीं होता है। इसीलिये जागने के उपरान्त 'मै आनन्द पूर्वक सोया' का भान होता है। न कि मै आनन्द रूप था ऐसा भान होता है। ज्ञान मात्र रूप जो ओंकार का चौथा रूप है वह इसी सुषुप्ति अवस्था का असाधारण रूप होता है। इसी कारण उपचार से (गौण रूप में) इसे भी प्राज्ञ कहा जाता है। (इस गौण रूप प्राज्ञ का सर्व कारणत्व सिद्ध करते हुए माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है कि प्राज्ञ ही समस्त भेद समूह का ईश अर्थात् शासन करने वाला है। सम्पूर्ण सृष्टि में यही सब वस्तुओं का ज्ञाता है। इसलिये इसे सर्वज्ञ कहते हैं। सभी प्राणियों का नियमन करने के कारण इसे ही अन्तर्यामी कहते हैं। भेद सहित समस्त जगत् इसी प्राज्ञ से उत्पन्न होता है। इसलिये यह सबका कारण है और यही समस्त प्राणियों का उत्पत्ति और लय स्थान है। इस प्रकार एक ही आत्मन् के बहिष्प्रज्ञ, अन्तःप्रज्ञ और प्रज्ञानघन ये तीन रूप कहे गये हैं। इन तीन रूपों की शरीर के तीन स्थानों में स्थिति बतलायी गयी है।

आत्मन् का वैश्वानर रूप दाहिने नेत्रद्वार में रहता है। मनस् के भीतर आत्मन् का तैजस् रूप रहता है, **'अयं पुरुषः मनोमयः'** और हृदयाकाश में प्राज्ञ की स्थिति बतलायी गयी है।

वैश्वानर प्रधानता की दृष्टि से दक्षिण नेत्र में स्थित होकर स्थूल पदार्थों का अनुभव करता है, **'इन्धो ह वै नामेष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः'** अर्थात् यह जो दक्षिण नेत्र में स्थित पुरुष है उसे इन्ध कहते हैं। वैश्वानर में दीप्तगुण अधिक होने से इसे इन्ध कहा जाता है।

वस्तुतः आत्मन् ही एक मात्र भोक्ता है। यही आत्मन् सभी इन्द्रियों के माध्यम से विषयों का भोग करता है, **'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः'** किन्तु प्रधानता की दृष्टि से दक्षिण नेत्र में स्थित वैश्वानर रूप आत्मन् विषयों का अधिक भोग करता है। अर्थात् दक्षिण नेत्र की दर्शन शक्ति अधिक होती है। इसलिये दक्षिण नेत्र को आत्मन् का मुख कहा गया है। वैश्वानर रूप आत्मन् और तुरीय आत्मन् में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है केवल भेद की प्रतीति मात्र होती है। माण्डूक्योपनिषद् में आत्मन् के इन त्रिविध रूपों का भोग भी बतलाया गया है। वैश्वानर का भोग स्थूल पदार्थ है। आत्मन् के तैजस् रूप का भोग स्वप्नगत प्रकाशरूप सूक्ष्म पदार्थ हैं और प्राज्ञ आनन्द को भोगने वाला होता है। इसी प्रकार तीन प्रकार के भोगों के अनुसार आत्मन् की तृप्ति भी तीन प्रकार की समझनी चाहिये। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों स्थानों पर भोग और भोक्ता के तीन रूप होते हैं। इन तीनों रूपों को भलीभाँति जानने वाला पुरुष भोगों को भोगता हुआ भी इनसे लिप्त नहीं होता है अपितु इन सबको वह साक्षी भाव से देखता हुआ विषयों से दूर रहता है।

माण्डूक्योपनिषद् में ओंकार के तीन पादों का कथन करने के उपरान्त चतुर्थपाद तुरीय का स्वरूप बतलाया गया है। तुरीय का स्वरूप शेष तीनों पादों के धर्मों से रहित है। वह अन्तःप्रज्ञ नहीं है ऐसा कथन करके आत्मन् के तैजस् स्वरूप का निषेध किया गया है। वह बहिष्प्रज्ञ नहीं है, अर्थात् वह वैश्वानर के धर्मों से रहित है। उसमें अन्तःप्रज्ञ और बहिष्प्रज्ञ के बीच की स्थिति भी नहीं है। वह प्रज्ञानघन नहीं है इससे आत्मन् की सुषुप्ति अवस्था का निषेध है। वह प्रज्ञ भी नहीं है। प्रज्ञ का अर्थ है, **'प्रकृष्टेन जानाति इति प्रज्ञः'** यद्यपि पूर्व में उसे सर्वज्ञ कह दिया गया है। तथापि वह 'प्रज्ञ नहीं है' ऐसा कहकर यहाँ निषेध किया गया है। क्योंकि तुरीयावस्था में ज्ञान का भी अनुभव नहीं होता है। वह ज्ञान स्वरूप है किन्तु ज्ञान का अनुभव नहीं होता। इसलिये वह प्रज्ञ नहीं है। ज्ञान का अनुभव होना एक विचार है। तुरीय में कोई विचार नहीं होता। वह अप्रज्ञ है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह जड़ नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् में उसे 'नेति नेति' कहकर सभी विकल्पों से शून्य बताया गया है।

ओंकार की तुरीय अवस्था सभी इन्द्रियों की पहुँच से परे है। केनोपनिषद् में कहा है। **'न तत्र श्रोत्रं गच्छति न वाक् गच्छति...।'** इसलिये अदृश्य है। अदृश्य होने से सर्वथा अव्यवहार्य है। कर्मेन्द्रिय से अग्राह्य है। किसी प्रकार से उसका अनुमान नहीं किया जा सकता। इसलिये वह अचिन्त्य है। इस प्रकार के ज्ञान के अनुसरण किये जाने से एकात्मप्रत्ययसार कहा जाता है। एकात्मप्रत्ययसार का अर्थ है आत्मज्ञान ही जिसमें प्रमाण है।

पुनः जाग्रत आदि अवस्थाओं के अभिमानियों के धर्मों का प्रतिषेध करते हुए कहा गया है– कि जाग्रत आदि अवस्थाओं के जो प्रपंचादि धर्म हैं तुरीय उनसे भी रहित है। इसलिये वह शान्त है अविकारी है। भेद रूप विकल्पों से रहित होने के कारण अद्वैत है। मंगलमय होने से शिव है। पूर्वोक्त तीन पादों से विलक्षण होने से चतुर्थ यानी तुरीय है। उस तुरीय ओंकार को आत्मन् कहते हैं वही जानने योग्य है।

तुरीय आत्मन् समस्त दुःखों का निवारण करने में समर्थ है। दुःख केवल भोग से उत्पन्न होता है। आत्मन् के विश्व, तैजस और प्राज्ञ अवस्थाओं में भोग होता है। इसलिये ये तीनों दुःख देने वाले होते हैं। तुरीय में कोई भोग नहीं है इसीलिये दुःखों से रहित है। उसमें किसी प्रकार का विकार न होने से अव्यय है। अर्थात् वह अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता है। तुरीय ही सभी पदार्थों का अद्वैत रूप है। प्रकाशनशील होने से देव है।

माण्डूक्योपनिषद् के 11 वें मन्त्र में तुरीय का विश्व और तैजस् से भेद बताया गया है। विश्व और तैजस् में कर्ता और कार्य का भाव विद्यमान रहता है। आत्मन् इन दोनों अवस्थाओं में **'मैं कर्ता हूँ' 'मेरे द्वारा किये गये ये कार्य हैं।'** इस प्रकार का भाव विद्यमान रहता है। किन्तु प्राज्ञ में ये दोनों भाव नहीं रहते हैं तथापि कर्ता (कारण) का बीज विद्यमान होता है। लेकिन तुरीय में ये दोनों नहीं रहते हैं। वाक्यपदीय के अनुसार जाग्रत अवस्था का कर्ता वाक् द्वारा ही व्यवहार करता है अर्थात् कार्य में प्रवृत्त होता है। वैसे ही स्वप्नावस्था में वाक् ही कर्ता, कर्म एवं करण आदि रूपों को ग्रहण करती है।

सुषुप्तावस्था में पुरुष की जो चेतना होती है उसे प्राज्ञ कहा जाता है। लय होने पर सभी जीव इसी अवस्था को प्राप्त होते हैं। इसीलिये इसे सबका कारण कहा जाता है। सबका शासक होने से ईश्वर कहा जाता है। प्राज्ञ जो सुषुप्तावस्था की चेतना है। यह अज्ञान (तमस) की प्रधानता से न अपने को जानता है, न पराये को जानता है, न सत्य को जानता है, न असत्य को ही जानता है। जबकि तुरीय सबको जानने वाला है। इसीलिये उसे सर्वदृक् कहा जाता है। जो सर्वरूप और उसका साक्षी भी हो वह सर्वदृक् कहा जाता है।

द्वैत का ग्रहण प्राज्ञ में भी नहीं होता है और तुरीय में भी नहीं होता है। किन्तु प्राज्ञ में द्वैत का अग्रहण निद्रा के कारण होता है। जबकि तुरीय में निद्रा नहीं होती। यह तुरीय आत्मन् ही अक्षर की दृष्टि से ओंकार कहा गया है। वह मात्राओं को विषय बनाकर स्थित है, पूर्वोक्त पाद ही मात्रायें हैं और मात्रायें ही पाद हैं। ये मात्रायें अकार उकार और मकार हैं। प्रणव के तीनों पाद तुरीय के ही रूप हैं, **'प्रणवशब्दः दिक्कालाणवोऽपि तस्य रूपाणि।'**

अब आगे मात्राओं का पादों से सम्बन्ध दिखाया गया है। ओंकार की प्रथम मात्रा अकार वैश्वानर चेतना वाला होता है। माण्डूक्य में इसके दो कारण बताये गये हैं। प्रथम कि अकार से समस्त वाणी व्याप्त है, **'अकारो वै सर्वा वाक्।'** वैश्वानर आत्मन् का मस्तक द्युलोक है। इस श्रुति के अनुसार वैश्वानर से सारा जगत् व्याप्त है। इसलिये समानता के कारण अकार मात्रा वैश्वानर का बोधक है। दूसरा कारण कि ओंकार में

अकार अक्षर आदिमान है। पादों में वैश्वानर आदिमान है। इस समानता के कारण भी वैश्वानर की अकार रूपता सिद्ध है। जो पुरुष इस एकत्व को जानता है। वह समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि जो एक मात्रा विशिष्ट ओंकार का ध्यान करता है वह उसी से बोध को प्राप्त होकर तुरन्त ही संसार को प्राप्त हो जाता है।

उकार मात्रा और तैजस् का एकत्व प्रतिपादित करते हुए बताया गया है कि उकार स्वप्न स्थान वाले तैजस् आत्मन् का बोधक है। इसके भी दो कारण हैं। प्रथम कि अकार से उकार उत्कृष्ट है।

सुषुप्ति स्थान वाला जो प्राज्ञ आत्मन् है वह ओंकार की तीसरी मात्रा है। इनकी परस्पर समानता दिखाते हुए कहा गया है कि ये मिति अर्थात् माप के कारण समान हैं। प्रलय के समय विश्व और तैजस् प्राज्ञ में विलीन हो जाते हैं और उत्पत्ति के समय पुनः प्राज्ञ से तैजस् और वैश्वानर निकलते हैं। दूसरी ओर ओंकार की समाप्ति पर पुनः उनका प्रयोग किये जाने पर मानो अकार और उकार मकार में प्रवेश करके पुनः निकलते हैं। दूसरा एकीभाव के कारण भी दोनों में समानता है। ओंकार का उच्चारण करने पर अकार और उकार मकार में एकीभूत से हो जाते हैं। उसी प्रकार सुषुप्ति के समय विश्व और तैजस् प्राज्ञ में लीन से हो जाते हैं। जो ऐसा जानता है वह सम्पूर्ण जगत् को माप लेता है। अर्थात् सृष्टि और प्रलय के समय को जानने वाला हो जाता है और वह जगत् का कारण स्वरूप हो जाता है।

23वें मन्त्र में ओंकार की उपासना के फल को एकत्रित रूप में दिखाया गया है कि अकार विश्व को प्राप्त करा देता है। उकार तैजस् को, मकार प्राज्ञ को किन्तु अमात्र जो कि ओंकार की तुरीयवस्था है उसमें किसी की गति नहीं है। प्रश्नोपनिषद् के अनुसार ओंकार की तीनों मात्रायें पृथक्–पृथक् रहने पर मृत्यु से युक्त हैं, **'तिस्त्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता।'** ओंकार की तुरीयवस्था आत्मन् ही है। इस अवस्था में वाणी और मनस् का क्षय हो जाने से अव्यवहार्य है। वह प्रपंच रहित मंगलमय तथा अद्वैत स्वरूप है। जो इस प्रकार जानता है वह अपने पारमार्थिक आत्मन् में प्रवेश करता है और उसका पुनर्जन्म नहीं होता है।

माण्डूक्य उपनिषद् के आगम प्रकरण में प्रणव की विशेष प्रशंसा की गयी है और उसे अधिक आध्यात्मिक महत्त्व दिया गया है। इसमें बताया गया है कि ओंकार की तीन मात्रायें हैं–अ उ और म्। इसके अतिरिक्त एक मात्रा हीन अवस्था है। ओंकार को सूक्ष्म रूप से चेतना की विभिन्न अवस्थाओं और आत्मन् के विविध प्रकारों का प्रतीक माना गया है। एक ओर यह जाग्रत अवस्था, स्वप्न अवस्था, सुषुप्ति अवस्था तथा तुरीय अवस्था का प्रतीक है तो दूसरी ओर आत्मन् के विविध प्रकारों वैश्वानर, तैजस्, प्राज्ञ और आत्मन् का प्रतीक है। ओंकार का अमात्रिक भाग चेतना की तुरीय अवस्था तथा तत्त्वज्ञान की चतुर्थ कोटि आत्मन् का भी प्रतीक है। वैश्वानर स्थूल पदार्थों का भोग करने वाला है। तैजस् सूक्ष्म पदार्थों का तथा प्राज्ञ आनन्द का भोग करने वाला है। प्राज्ञ को दर्शन के ईश्वर के समान बताया गया है जो सबका प्रभु, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, भूतमात्र की उत्पत्ति और लय का कारण है। इन सबसे पृथक आत्मन् है। जो कि दर्शन के ब्रह्मन् के बराबर

है। यह न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिष्प्रज्ञ है और न उभयप्रज्ञ है, न प्रज्ञानप्रज्ञ है, न प्रज्ञ है और न हि अप्रज्ञ है। यह अव्यवहार्य, अदृष्ट, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य है यह शांत, शिव और अद्वितीय है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. ईशादि नौ उपनिषद्, शांकरभाष्यार्थ, गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत्, 2067
2. रानाडे, रामचन्द्र दत्तात्रेय, उपनिषद्–दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 2011
3. पातञ्जलयोगदर्शनम्, व्यासभाष्य, सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव (हिन्दी व्याख्याकार), चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2011
4. वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्ड), भर्तृहरि, शिवशंकर अवस्थी (व्याख्याकार), चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2006
5. सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, गौडपादभाष्य, जगन्नाथ शास्त्री (व्याख्याकार), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2010
6. सर्वदर्शनसंग्रह, माधवाचार्य, उमाशंकर शर्मा ऋषि (प्रकाश– हिन्दी व्याख्या), चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2010
7. तर्कसंग्रह, अन्नमभट्ट, अनितासेन गुप्ता (व्याख्याकर्त्री), शारदा पुस्तकभवन, इलाहाबाद, 2003